॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

अमृतबिन्दु उपनिषद

विषय सूची

॥अथ अमृतबिन्दुपनिषत् ॥ 3
शान्तिपाठ 12

॥ श्री हरि ॥

॥अथ अमृतबिन्दुपनिषत् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ श्री हरि ॥

॥ अमृतबिन्दु उपनिषद्॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १॥

मन के दो प्रकार कहे गये हैं, शुद्ध मन और अशुद्ध मन । जिसमें इच्छाओं, कामनाओं के संकल्प उत्पन्न होते हैं,वह अशुद्ध मन है और जिसमें इन समस्त इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो गया है,वही शुद्ध मन है॥१॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २॥

मन ही सभी मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का प्रमुख कारण है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का और कामना-संकल्प से रहित मन ही मोक्ष (मुक्ति) का कारण कहा गया है॥२॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ३॥

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदाऽऽयात्यात्मनो भावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ४॥

विषय-भोगों के संकल्प से रहित होने पर ही इस मन का विलय होता है। अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाला साधक अपने मन को सदा ही विषयों से दूर रखे। इसके अनन्तर जब मन से विषयों की आसक्ति निकल जाती है तथा वह हृदय में स्थिर होकर उन्मनी भाव को प्राप्त हो जाता है, तब वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है॥३-४॥

तावदेव निरोद्धव्यं यावधृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायश्च विस्तरः ॥ ५॥

मनुष्य को अपना मन तभी तक रोकने का प्रयास करना चाहिए, जब तक कि वह हृदय में विलीन नहीं हो जाता। मन का हृदय में लीन हो जाना ही ज्ञान और मुक्ति है, इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी है, वह सब ग्रन्थ का मात्र विस्तार ही है॥५॥

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यं न चिन्त्यं चिन्त्यमेव च ।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ६॥

जब चिन्तनीय और अचिन्तनीय का उस (साधक) के समक्ष कोई अन्तर न रह जाए तथा दोनों में से किसी के प्रति भी मन का पक्षपात भी न रह जाए , तब साधक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥६॥

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम् ।
अस्वरेणानुभावेन नाभावो भाव इष्यते ॥ ७॥

(साधक को) स्वर अर्थात् प्रणव के द्वारा व्यक्त ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिए तथा इसके पश्चात् । अस्वर द्वारा (प्रणव से अतीत) अव्यक्त ब्रह्म का चिन्तन करे। प्रणवातीत उस श्रेष्ठ, परब्रह्म की प्राप्ति भावना के माध्यम से भाव-रूप में होती है, अभाव रूप में नहीं॥७॥

तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥ ८॥

वह ब्रह्म कलाओं से रहित (एक रस-प्राणादि कलाओं से ऊपर), निर्विकल्प एवं निरञ्जन अर्थात् माया और मल से रहित है।'वह ब्रह्म मैं ही हूँ', इस प्रकार जान करके मनुष्य निश्चित ही ब्रह्ममय हो जाता है॥८॥

निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ ९॥

निर्विकल्प, अन्तरहित (अनन्त), हेतु और दृष्टान्त से शून्य, प्रपञ्च से रहित, अनादि, परम कल्याणमय परब्रह्म को जानकर विद्वान् पुरुष स्वयमेव मुक्त हो जाता है॥९॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ १०॥

न निरोध (प्रलय) है, न उत्पत्ति है, न बन्धन है और न ही (मोक्ष) साधकता है, न मुक्ति की इच्छा है। और न ही मुक्ति है। इस तरह का निश्चय होना ही परमार्थ बोध अर्थात् वास्तविक ज्ञान है॥१०॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ११॥

शरीर की इन तीनों जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में एक ही आत्मतत्त्व को सम्बन्ध मानना चाहिए। जो भी व्यक्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे हो गया है,उस व्यक्ति का दूसरा जन्म फिर नहीं होता॥११॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १२॥

समस्त भूत प्राणियों का एक ही अन्तर्यामी हर एक प्राणी के अन्त:करण में विद्यमान है। अलग-अलग जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह वही एक, अनेक रूपों में दिखाई देता है॥१२॥

घटसंवृतमाकाशं नीयमानो घटे यथा ।
घटो नीयेत नाकाशः तद्वज्जीवो नभोपमः ॥ १३॥

घट (घड़े) में आकाश तत्त्व पूर्णरूप से विद्यमान है; किन्तु जिस प्रकार घड़े के क्षत-विक्षत होने पर मात्र घड़े का ही विनाश होता है, उसमें

भरे हुए आकाश तत्त्व का नहीं, उसी प्रकार शरीर धारण करने वाला जीव भी आकाश के ही सदृश है। शरीर के विनष्ट होने से आत्मा का विनाश नहीं होता, वह शाश्वत है॥१३॥

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः ।
तद्भेदे न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥ १४॥

समस्त जीव-प्राणियों का भिन्न-भिन्न शरीर, घट के ही समान है, जो बार-बार टूटता-फूटता या विनाश को प्राप्त होता रहता है। यह विनाश को प्राप्त होने वाला जड़ शरीर अपने अन्त:करण में विद्यमान चिन्मय परब्रह्म को नहीं जानता; किन्तु वह सभी का साक्षी परमात्मा, सभी शरीरों को सदा से जानता रहता है॥१४॥

शब्दमायावृतो नैव तमसा याति पुष्करे ।
भिन्ने तमसि चैकत्वमेक एवानुपश्यति ॥ १५॥

जब तक नाम-रूपात्मक अस्तित्व रखने वाली माया के द्वारा (यह) जीवात्मा आवृत रहता है, तब तक बँधे हुए की भाँति हृदय-कमल में स्थित रहता है, जब अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश हो जाता है, तब ज्ञान रूपी प्रकाश में विद्वान् पुरुष जीवात्मा एवं परमात्मा के एकत्व का दर्शन प्राप्त कर लेता है॥१५॥

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन्क्षीणे यदक्षरम् ।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥ १६॥

शब्द ब्रह्म (प्रणव) और परब्रह्म दोनों ही अक्षर हैं। इन दोनों में से जिस किसी एक के क्षीण होने पर मग तो अक्षय की स्थिति में बना रहता है, वह (परब्रह्म) ही वास्तविक अक्षर (अविनाशी) है। विद्वान् शान्ति चाहते हों, तो उन्हें उस अक्षर रूप परब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिए॥१६॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १७॥

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं, प्रथम विद्या को 'शब्द ब्रह्म' और दूसरी विद्या को 'परब्रह्म' के नाम से जाना जाता है। 'शब्द ब्रह्म' अर्थात् वेद-शास्त्रों के ज्ञान में निष्णात होने पर विद्वान् मनुष्य परब्रह्म को जानने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है॥१७॥

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥ १८॥

ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि ग्रन्थ का अभ्यास करने के पश्चात् उसमें निहित ज्ञान-विज्ञान को (मूलतत्त्व को) ग्रहण कर ले, तदनन्तर ग्रन्थ को त्याग देना चाहिए। ठीक उसी भाँति, जैसे कि धान्य (अन्न) को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अन्न तो प्राप्त कर लेता है और पुआल को खलिहान में ही छोड़ देता है॥१८॥

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।
क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥ १९॥

अनेक रूप-रंगों वाली गौओं का दुग्ध एक ही रंग का होता है। ठीक वैसे ही बुद्धिमान् व्यक्ति अनेक साम्प्रदायिक चिह्नों को धारण करने वाले मनुष्यों के विवेक को भी गौओं के दूध की तरह ही देखता है। बाहर के चिह्न-भेद से ज्ञान में किसी भी तरह का अन्तर नहीं आने पाता॥१९॥

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मनसि मन्थयितव्यं मनो मन्थानभूतेन ॥ २०॥

जिस प्रकार दूध में घृत (घी) मूल रूप से छिपा रहता है, उसी तरह ही प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण में विज्ञान (चिन्मय ब्रह्म) स्थित रहता है। जैसे घृत प्राप्ति के लिए दूध का मंथन किया जाता है, वैसे ही विज्ञान स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मन को मथानी रूप में परिणत करके सतत मन्थन (ध्यान एवं विचार) करते रहना चाहिए॥२०॥

ज्ञाननेत्रं समाधाय चोद्धरेद्वह्निवत्परम् ।
निष्कलं निश्चलं शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥ २१॥

इसके पश्चात् ज्ञान दृष्टि प्राप्त करके अग्नि के सदृश तेजःस्वरूप परमात्मा का इस भाँति अनुभव करें कि वह कला शून्य, निश्चल एवं अतिशान्त परब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ। यही विज्ञान कहा गया है॥२१॥

सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यपि ।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः ॥ २२॥

जिसमें समस्त भूत प्राणियों का निवास है, जो स्वयं भी सभी भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है एवं सभी पर अहैतुकी कृपा करने के कारण प्रसिद्ध है। वह सभी आत्माओं में स्थित वासुदेव मैं ही हैं, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं स्वयं ही हैं। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥२२॥

॥ हरि ॐ ॥

शान्तिपाठ

॥ हरिः ॐ ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ इति कृष्ण यजुर्वेदेऽमृतबिन्दूपनिषत् ॥

॥यजुर्वेदीय अमृतबिन्दु उपनिषद समाप्त ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥